श्री वर्द्धमानाय नम

दि० जैन साहित्य में विकार

•

लेखक—

पूज्य श्री १०८ विद्यानन्द जी मुनि

•

प्रकाशक

मन्त्री—जैन विद्यार्थी सभा

चांदनी चौक, दिल्ली

•

फाल्गुन वदी १० शनिवार

वीर सं० २४९०

द्वितीय बार १००००	दिनांक ८ फरवरी १९६४	मूल्य १५ नये पैसे

प्राप्ति स्थान—
आर० सी० जैन
४५७० पहाड़ी धीरज, दिल्ली-६

मुद्रक
सम्राट प्रेस,
पहाड़ी धीरज, दहली।

प्राक् दो शब्द

मनुष्य अपने भावों को दो प्रकार से व्यक्त किया करता है— १ वचन द्वारा तथा २ लेख द्वारा। हमको जो शब्द कानों द्वारा सुनाई देते हैं। वे यद्यपि जड़ पुद्गल द्रव्य की पर्याय रूप हैं किन्तु शब्द वर्गणायें मनुष्य के मुखान्तवर्ती जीभ, दांत, ओठ, तालु, कण्ठ आदि के सम्पर्क से अ इ उ क ख आदि अक्षरों के रूप में अथवा "देव गुरु, गाय" आदि विभिन्न प्रकार के शब्दों के रूप में या किसी अभिप्राय विशेष के प्रगट करने वाले शब्दों के समुदाय रूप वाक्यों (गाय एक उपयोगी पशु है आदि) के रूप में परिणमन किया करती हैं। उनको सुनने वाला व्यक्ति उस वक्ता (बोलने वाले) के हृदय की बात को समझ लेता है। इस तरह जड़ (निर्जीव) पौद्गलिक शब्दों के माध्यम से आत्मा अपना भाव दूसरे सुनने वाले जीवों के सामने स्पष्ट रख देता है। सुनने वाले मनुष्य भी उन ही जड़ शब्दों के माध्यम से बोलने वाले के भावों को समझ लेते हैं।

शब्द जड़ होते हैं इस कारण वे न तो स्वयं अपने निजी रूप में प्रामाणिक होते हैं और न अप्रामाणिक। शब्दों में प्रामाणिकता सत्यता यथार्थभाषित्व मनुष्य के आधार से आया करता है। तथा असत्य भाषी, विश्वासघाती, छली, कपटी मनुष्य के मुख द्वारा प्रगट हुए शब्द उस व्यक्ति की अप्रामाणिकता के आधार से असत्य अप्रामाणिक, विश्वास के अयोग्य हुआ करते हैं। वाणी-वक्ता की प्रामाणिकता से शब्दों में प्रामाणिकता आती है और वक्ता की अप्रामाणिकता से शब्दों में अप्रामाणिकता आया करती है।

अर्हत भगवान की वाणी इसी कारण स्वत (अपने आप) पूर्ण प्रमाण (सत्य—यथार्थ, विश्वस्य, श्रद्धेय) मानी जाती है, क्योंकि अर्हत भगवान पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण वीतराग (कषाय भावना शून्य निर्मल, निर्विकार भाव वाले) होते हैं। इसी कारण ढाई हजार वर्ष बीत जाने पर भी सर्वज्ञ वीतराग भगवान् महावीर की (आप्त ग्रन्थों मे लिखित) वाणी पूर्ण प्रामाणिक मानी जा रही है।

वक्ता लिखकर जो अपने भाव प्रगट करता है, उस विषय मे भी ऐसी ही बात है। कागज या ताड़-पत्र आदि पर लिखा हुआ लेख या ग्रन्थ आत्मा से भिन्न जड़ पदार्थ है। कागज, ताड़पत्र, लेखनी मसिपात्र (दवात) य सब साधन ज्ञान-शून्य अचेतन पदार्थ है। कागज आदि पर लेखनी द्वारा विविध प्रकार के आकारों में लिखने वाले हाथ भी वास्तव में जड़ रूप पौद्गलिक शरीर के अंग हैं। फिर भी पर पदार्थ रूप जड़ ग्रन्थ प्रामाणिक या अप्रामाणिक माने जाते हैं। उस प्रामाणिकता का आधार दुर्भावना रहित स्व परहितैषी आत्मा है। निर्दोष समयसार ग्रन्थ इसी कारण प्रामाणिक है कि विश्वहितैषी, स्वच्छ भावना वाले श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने उसको लिखा है।

प्रचलित तोता मैना की कहानियाँ, अकबर बीरबल के चुटकले, वाममार्गियों के दुराचार-पोषक ग्रन्थ नास्तिकता को पुष्ट करने वाले चार्वाकों के शास्त्र एकान्तवाद की प्ररूपक पुस्तकें हिंसा विधान करने वाले ग्रन्थ इसी कारण अप्रामाणिक है कि उनके लिखनेवाले व्यक्ति राग द्वेष, मोह अज्ञान, मिथ्या श्रद्धा मिथ्या आचार आदि दुर्भावों से ग्रस्त है या थे उनके लिखे हुए ग्रन्थों ने संसार मे हिंसा, व्यभिचार कामवासना, मांस भक्षण मदिरापान नास्तिकता आदि का प्रचार किया है।

अत सज्जन, सद् ज्ञानी, स्वपरहितैषी, जनसाधारण के उपकारक, निष्पक्ष (कदाग्रह भ्रान्ति, संशय से मुक्त) विद्वान् ही प्रामाणिक ग्रन्थ लिख सकते हैं।

हमको कोई भी ग्रन्थ लिखते समय अथवा किसी ग्रन्थ की टीका करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है कि एक भी अक्षर परम प्रामाणिक जिनवाणी (जो कि श्री कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद अकलंक देव, वीरसेन, विद्यानन्द आदि आचार्यों के आर्ष ग्रन्थों में विद्यमान है) के विरुद्ध न हो। प्रत्येक शब्द उन आर्ष ग्रन्थों के अनुसार हो, ऐसा ध्यान रखकर गहरे अध्ययन के साथ जब हम कुछ सावधानी से लिखेंगे तब ही हमारा लिखा हुआ लेख या ग्रन्थ प्रामाणिक होगा स्व-पर-कल्याणकारी होगा और हमारी स्वच्छ कीर्ति का दृढ़ स्तम्भ होगा।

कुछ समय से ग्रन्थों की टीका करने या स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का ऐसा प्रवाह चल पड़ा है कि धड़ाधड़ नये-नये ग्रन्थ प्रकाशित तो हो रहे हैं, परन्तु उनमें मूल ग्रन्थकार के भावों को तोड़ मरोड़ कर बिगाड़ दिया जाता है जिनवाणी के विरुद्ध अपनी भ्रान्त दुर्भावना का समावेश उनमें कर लिया जाता है। जो स्वतन्त्र पुस्तकें लिखी जाती हैं उनमें आर्ष-परम्परा का अनुकरण नहीं किया जाता अपनी दूषित कदाग्रही भावना को उन पुस्तकों में भर दिया जाता है। जिससे वे वास्तव में कल्याणकारी 'शास्त्र' न रहकर आत्म घातक शस्त्र बन गये हैं या बन जाते हैं, क्योंकि उनके पढ़ने, सुनने तथा अध्ययन करने से स्वसिद्धांत के विषय में भ्रम भावना जन्म लेती है।

ऐसे विकृत ग्रन्थों का पठन, पाठन, अवलोकन स्वाध्याय ग्रन्थ-भण्डारों में रखना निषिद्ध होना चाहिए जिससे भोले भाले, सिद्धांत से अपरिचित स्त्री पुरुषों का अहित न होने पावे।

कुन्ती और कुत्ती शब्द लिखने में या बोलने में एक बिन्दु मात्र का थोड़ा-सा अन्तर है परन्तु उनके अभिप्राय में महान् अन्तर है। कुन्ती पाण्डवों की माता का नाम है जब कि कुत्ती शब्द 'कुतिया' का वाचक है। एक शब्द की अशुद्धि से जब इतना महान अन्तर पड़ जाता है तब आर्ष सिद्धांत के विरुद्ध लिखे गये ग्रन्थों द्वारा तो भावों (अभिप्रायों) में महान् अनर्थकारी अन्तर पड़ जाता है।

ऐसे अनर्थों से जन साधारण को बचाने की सद्भावना से मैंने यह छोटी सी पुस्तक लिखी है। दि० जन साहित्य में इस समय जो विकार आ गया है तथा आ रहा है उसका परिज्ञान कराना ही इस पुस्तक का मूल ध्येय है। आशा है जनता इस पुस्तक से महान लाभ प्राप्त करेगी।

मैं भी अल्पज्ञ हूँ, अतः सावधानी रखते हुए भी मुझ से त्रुटि होना असम्भव नहीं है। विज्ञ पाठक यदि उन त्रुटियों को मेरे पास पहुँचाने का प्रयास करेंगे तो उन त्रुटियों को निकाल दिया जावेगा, साथ ही मैं उसका बहुत आभार भी मानूँगा।

यहाँ पर मैं श्री० ब्र० शीतलप्रसाद जी का उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ। यद्यपि उनके साथ मेरा प्रत्यक्ष परिचय नहीं हो पाया, अतः मैं उनके विषय में व्यक्तिगत रूप से कुछ विशेष नहीं जानता परन्तु उनके द्वारा श्री कुन्दकुन्द आचार्य के ग्रन्थों पर लिखी गई उनकी हिन्दी भाषा टीकाओं का स्वाध्याय करने का मुझे जितना अवसर मिला है उससे यह बात जान सका हूँ कि उन्होंने अपनी टीकाओं में तथा मौलिक रचनाओं में जिनवाणी का निर्दोष रूप स्थिर रक्खा है कहीं कोई विकार मुझे उनके ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

मनुष्य अल्पज्ञता तथा कषायभाव के कारण अपने कलुषित एवं कल्पित निराधार भाव जब दूसरों के मस्तक में उतारना चाहता है अथवा मिथ्या अभिमान उसको विकृत साहित्य लिखने की प्रेरणा करता है तब उस दुरभिमान और दुराग्रह से लिखा गया ग्रन्थ या साहित्य उसकी चिर स्थायी अपकीर्ति का कारण तो बनता ही है किन्तु उसके साथ जनसाधारण को भी कुछ समय के लिये भ्रम में डालकर श्रद्धालु समाज में कलह और भ्रम का बीज बो देता है।

इसी कारण अपने ज्ञान का अभिमान, तपस्या का अभिमान और कीर्ति का प्रलोभन आत्मा को सत्यपथ से भ्रष्ट करके अनेक अहितकारी अनर्थ कराता है। उन अनर्थों में विकृत साहित्यका रचना भी एक है।

भूतकाल में भी कुछ सिद्धान्त विरुद्ध विकृत साहित्य लिखा गया था

परन्तु दिगम्बर जैन समाज में वह स्थायी प्रामाणिक स्थान न पा सका। ऐसी ही बात वर्तमान के विकृत साहित्य के विषय में होगी ऐसी मेरी दृढ़ आस्था है।

हमने दि० जैन साहित्य में आये हुए विकार को दूर करने कराने की भावना से यह पुस्तक लिखी है, निन्दात्मक भावना इस विषय में हमारी लेशमात्र भी नहीं है अतः बुद्धिमान पाठक उसको उसी रूप में जानने का यत्न करेंगे, अन्यथा रूप न लेंगे ऐसी आशा है।

श्रमण संस्कृति

जैनसंस्कृति का दूसरा नाम श्रमण-संस्कृति है। 'श्रमण' शब्द का अर्थ 'साधु' है। तदनुसार आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ जैनसंस्कृति के प्रवर्तक तब ही बने जबकि उन्होंने समस्त आरम्भ परिग्रह राजपाट, घर परिवार का त्याग करके अपना दिगम्बर वेष बनाया और एक हजार वर्ष तक मौनभाव से तपस्या की, तब ही वे मोक्षपथ प्रदर्शक या जैन संस्कृति का निर्माण करने वाले उपदेष्टा बने छद्मस्थ (अल्पज्ञ अपूर्णज्ञानी) एवं सराग अवस्था में उन्होंने धर्म उपदेश का एक वाक्य भी किसी को न कहा। अतएव जैनसंस्कृति का प्रारम्भ श्रमण भगवान ऋषभनाथ से हुआ।

उनकी उस श्रमण-परम्परा को उनके अनुवर्ती शिष्य श्रमणों ने तथा पश्चाद्वर्ती अन्य २३ तीर्थंकरों ने अपनाया। इस तरह जैन संस्कृति के प्रवर्तक कोई गृहस्थ नहीं हुए, न कोई चक्रवर्ती, मंडलेश्वर राजा या सेठ हुए इसके प्रवर्तक तो सांसारिक कीचड़ से दूर निर्मल सच्चरित्र, ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी श्रमण (साधु) ही रहे हैं। जो व्यक्ति स्वयं विषय भोगों में, शारीरिक राग में फँसा हो वह क्या आत्म शुद्धि का उपदेशक बन सकेगा। स्वयं इन्द्रियों का दास बनकर शरीर की सेवा करना दूसरों को आत्मशुद्धि का उपदेश देना परस्पर विरुद्ध, निस्सार प्रभावहीन बात है।

श्रमण श्रद्धा, ज्ञान चारित्र का आराधक होता है। उसको जिनवाणी

जब अचल श्रद्धा होती है उसे जनसाहित्य का, संसार, मुक्ति संसार के साधन, मुक्ति के साधन, आत्मा अनात्मा का, हेय उपादेयका परिपक्व ज्ञान होता है और अन्तरङ्ग बहिरङ्ग तपश्चर्या का अभ्यासी होता है।

जो व्यक्ति आध्यात्मिक ग्रन्थों में शुद्ध आत्मस्वरूप को पढ़कर अपने आपको सिद्ध समान शुद्ध-बुद्ध परमात्मा भ्रम से मान बैठे, वह क्या तो अपने कर्मरोग को पहचान पावेगा और क्या उस कर्मरोग से छूटने का यत्न करेगा। तथा क्या उसको जिनवाणी का श्रद्धान और ज्ञान होगा? जिनवाणी की श्रद्धा और ज्ञान तो कर्मबन्ध तथा कर्ममोचन (संवर निर्जरा) के विधान की श्रद्धा एवं जानने में निहित है। उस श्रद्धा और ज्ञान का फल अन्तरंग बहिरंग तपस्या द्वारा कर्ममल से आत्मा का शोधन (दूर करना) है। श्रमण का धर्म इस श्रद्धा ज्ञान और तपस्या में समाया हुआ (निहित) है।

नाटक में राजा का (ऐक्टिंग) अभिनय करते समय कोई मनुष्य अपनेआपको राजा समझ बैठे तो वह अपनी दरिद्रता की व्याधि से मुक्त नहीं हो सकता इसी तरह शास्त्र में शुद्ध आत्मस्वरूप को पढ़कर कोई अपने आपको शुद्ध परमात्मा भ्रम से मान बैठे तो वह जन्म मरण व्याधि से छूट नहीं सकता इसके लिए तो उसे तपस्या का श्रम करना पड़ेगा। सोने का शुद्धि केवल कहने या समझ लेने से नहीं हुआ करती, उसके लिये तो अग्नि पर तपाने का कठिन परिश्रम भी करना पड़ता है। ऐसे ही शुद्ध श्रद्धा और ज्ञान के साथ आत्मा को तपाने पर आत्मा कर्ममल से शुद्ध हुआ करता है। इस विधि में जितने अंश में कमी रहेगी आत्मा भी उतने अंश में निर्मल न हो पावेगा।

इस तरह भगवान ऋषभनाथ भगवान महावीर एवं कुन्दकुन्द आचार्य की वाणी और तपस्या को आदर्श मानकर प्रत्येक श्रद्धालु धर्मात्मा स्त्री पुरुष को आगम अनुसार श्रद्धा ज्ञान और वचन-व्यापार (उपदेश) तथा लेखन करना (लिखना) चाहिये तथा यथाशक्ति चारित्र का आचरण करना चाहिये।

विद्यानन्द मुनि



नमः सिद्धेभ्यः

दि० जैन साहित्य में विकार



कुन्दकुन्दो गुरुर्जीयात्, कलावच्यात्मबोधकः ।
भव्याम्भोरुहमार्तण्डो मोहाज्ञाननिवारकः ॥

विश्ववन्द्य श्री जिनेन्द्र भगवान् के मुखकमल से प्रकट हुई जिनवाणी समस्त जगत् को कल्याणकारिणी माता है। उस जिनवाणी को सदा हमारे पूर्वज महान विद्वान वीतराग ऋषियों—धरसेन आचार्य, गुणधर पुष्पदन्त, भूतबली, कुन्दकुन्द, उमास्वामी समन्तभद्र पूज्यपाद, अकलंक देव विद्यानन्दि, वीरसेन, जिनसेन आदि ने का है। उन्होंने गुरु-परम्परा से प्राप्त जिनवाणी को अविकृत रूपसे ज्यों का त्यों अपने अमूल्य ग्रन्थोंमें निबद्ध कर दिया है। ग्रन्थ लिखने समय उनका ध्येय यही रहा कि—

'अन्यूनमनतिरिक्तं, याथातथ्यं विना च विपरीतात्।'

[रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

यानी—गुरुमुख से प्राप्त जिनवाणी को ग्रन्थ में लिखते समय न तो कुछ न्यूनता (तत्त्वविवेचन में काट छांट रूप से कमी) हो, न अधिकता (अपनी कल्पनासे कुछ और मिलावट) हो, न कोई विपरीत बात लिखी जावे, जितना जैसा जाना गया है, वैसा उतना ही लिखा जावे।

ग्रन्थ लिखकर अन्त में उन्होंने अपनी छद्मस्थ अवस्था प्रगट करते हुए लघुता का भी प्रदर्शन किया है और सम्भव त्रुटियों को सुधारने का निवेदन विज्ञ पाठकों से किया है।

संस्कृत भाषा में सिद्धान्त के आद्य सूत्रकार श्री उमास्वामी तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ के अन्त में लिखते हैं—

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यञ्जनसंधिविवर्जितरेफम् ।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ।

अर्थ—इस तत्त्वार्थ सूत्र की रचना में यदि मैंने कहीं पर किसी अक्षर, किसी मात्रा, किसी पद, किसी स्वर की कमी की हो अथवा किसी व्यञ्जन किसी संधि या रेफ के बिना कहीं कुछ लिख दिया हो, तो विज्ञ साधु जन मुझको क्षमा करें। इस अगाध शास्त्र समुद्र में कौन व्यक्ति गलती नहीं कर सकता ?

सूत्रकार ने इस श्लोक द्वारा अपनी अल्पज्ञता को कितने सुन्दर ढंग से प्रकाशित किया है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि अपने प्रख्यात अहिंसा धर्म के विशद विवेचक ग्रन्थ पुरुषार्थ सिद्धि-उपाय के अन्त में अपनी लघुता प्रगट करते हुए लिखते हैं—

वर्णैः कृतानि चित्रैः, पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि ।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥२२६॥

अर्थ—मैंने इस ग्रन्थ में कुछ भी नहीं किया। विचित्र वर्णों (अक्षरों) से पद बने हैं और पदों से वाक्य बने हैं तथा वाक्यों द्वारा यह ग्रन्थ बना है।

श्री प० टोडरमल जी मोक्षमार्ग प्रकाशक नामक महाग्रन्थ को लिखते हुए कहते हैं—

'मैं तो बहुत सावधानी राखोंगा। पर सावधानी करते भी कहीं सूक्ष्म अर्थ का अन्यथा वर्णन होय जाय तो विशेष बुद्धिमान होइ सो

सवारि करि शुद्ध करियो यह मेरी प्रार्थना है।'

श्री पं० जयचन्द जी छाबड़ा अष्ट-पाहुड़ की भाषा टीका करते हुए लिखते हैं—

'या में किछू बुद्धि की मन्दताते तथा प्रमाद के वशतें अर्थ अन्यथा लिखूं तो बड़े बुद्धिमान मूल ग्रन्थ देखि शुद्धि करि बांचियो मोकूं अल्पबुद्धि जानि क्षमा कीजियो।'

यहां इतना विशेष जानना जो काल-दोष तें इस पंचम काल में अनेक पक्षपातकरि मतान्तर भये हैं तिनिकूं भी मिथ्या जानि तिनका प्रसंग न करना सर्वथा एकान्त का पक्षपात छोड़ि अनेकान्त रूप जिन वचन की शरण लेना।

श्री पं० दौलतराम जी अपने सुन्दर पद्यग्रन्थ छहढाला के अन्त में कहते हैं—

लघुधी तथा प्रमाद तें शब्द अर्थ की भूल।
सुधी सुधार पढ़ो सदा जो पावो भवकूल॥

अर्थ—अल्पबुद्धि के कारण तथा प्रमादवश यदि (इस छहढाला ग्रन्थ के बनाने में) कहीं पर शब्द या अर्थ की भूल हो गई हो तो संसार से पार होने के लिए बुद्धिमान पुरुष मेरी भूल को सुधार कर इस ग्रन्थ को पढ़ने की कृपा करें।

इसी प्रकार अन्य ग्रन्थकारों ने भी सावधानी से महान् ग्रन्थों की रचना करने के बाद अपनी लघुता प्रगट करके अपना सौजन्य दिखलाया है।

परन्तु आज उस आदर्श पद्धति का अनुकरण नहीं रहा। आजकल के टीकाकार प्राचीन निर्दोष ग्रन्थों की हिन्दी गुजराती आदि भाषाओं में टीका करते समय अपने पक्ष से ऐसा अयुक्त अनुचित गलत मटर मिला देते हैं जिसका मूल श्लोक का, पद्य या ग्रन्थ से मेल नहीं बैठता। ग्रन्थ या श्लोक का भाव विकृत हो जाता है और साधारण अध्ययनवाली

जनता के हृदय में भ्रम बैठ जाता है। इस तरह ये व्यक्ति ग्रन्थ या श्लोक का अर्थ न करके महान अनर्थ करते हैं और जिनवाणी माता की अवज्ञा करके अनर्थ की परम्परा डालते हैं।

इसके लिए मैं यहाँ कुछ उदाहरण पाठकों के सामने रखता हूँ—

श्री समन्तभद्र आचार्य रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर श्री प्रभाचन्द्राचार्यकृत एक संस्कृत टीका है। तथा श्री पं० सदासुख जी की हिन्दी भाषा में एक अच्छी विस्तृत टीका है। इसके सिवाय श्री पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल आदि विद्वानों के द्वारा लिखी गई और भी अनेक साधारण टीकाएँ हिन्दी भाषा में प्रकाशित हो चुकी हैं।

इसी रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रन्थ पर भद्रपरिणामी, समन्तभद्र के अनन्यभक्त श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने भी एक अच्छी टीका हिन्दी भाषा में लिखकर प्रकाशित की है। उस टीका सहित इस रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रन्थ का नाम आपने 'समीचीनधर्मशास्त्र' रखा है। यह नाम अपने ग्रन्थ के दूसरे श्लोक के 'देशयामि समीचीनं धर्म कर्मनिबर्हणम्' पूर्वार्द्ध के 'समीचीन धर्म' इस शब्द के आधार पर रख दिया है। परन्तु ग्रन्थ का यदि प्रख्यात नाम 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' ही रखते तो अच्छा होता अस्तु।

इस ग्रन्थ की भूमिका में श्री वासुदेव शरण अग्रवाल लिखित एक लेख भी प्रकाशित है। उसमें १७ वें पृष्ठ पर लिखा है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्म गूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८॥

अर्थ—धर्म से श्वान—कुत्ता के सदृश नीच पतित मनुष्य भी देव हो जाता है और पाप से देव भी श्वान बन जाता है।

उक्त श्लोक का यह अर्थ गलत लिखा गया है। यह अर्थ २९ वें श्लोक—

तथापि दैवोऽपि देव श्वा जायते धर्मकिल्बिषात् ।
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥

के पूर्वार्द्ध का है। श्री मुख्तार जी प्रसिद्ध साहित्य-शोधक विद्वान हैं किसी भी ग्रन्थ की सूक्ष्म गलती को भी वे पकड़ लेते हैं, फिर भी वे अपने ग्रन्थ में यह त्रुटि कैसे छोड़ गये। साधारण व्यक्ति इस गलती द्वारा भ्रम में पड़ सकता है।

इसी ग्रन्थ के ११२ वें पृष्ठ पर ग्रन्थकार श्री समन्तभद्र आचार्य का परिचय देते हुए आपने निम्नलिखित श्लोक लिखा है—

> वन्द्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता—
> दत्तोदात्त-पद-स्वमन्त्रवचन-व्याहूतचन्द्रप्रभः।
> आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ
> जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद् भद्रं समन्तान्मुहुः ॥ पृष्ठ ९४

'इस पद्य में यह बतलाया गया है कि जो भस्मक रोग को भस्मसात् करने में चतुर हैं, पद्मावती नाम की दिव्य शक्ति के द्वारा जिन्हें उदात्त पद की प्राप्ति हुई जिन्होंने अपने मन्त्र वचनों से (बिम्ब रूप में) चन्द्रप्रभ को बुलवा लिया और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी जनमार्ग (धर्म) इस कलि काल में सब ओर से भद्र रूप हुआ, वे गणनायक आचार्य समन्तभद्र पुनः पुनः वन्दना किये जाने के योग्य हैं।''

यहाँ पर श्री मुख्तार जी ने पद्य में आये 'पद्मावती देवता' शब्द का अर्थ ठीक नहीं किया। भगवान् पार्श्वनाथ की शासन देवी का नाम पद्मावती है। उसी देवी का उल्लेख उक्त पद्य में पद्यकार ने किया है। उस पद्मावती देवी का स्पष्ट उल्लेख न करके पं० जुगलकिशोर जी ने 'पद्मावती देवता' शब्द का अर्थ पलट दिया। 'पद्मावती देवी' को 'पद्मावती नाम की दिव्य शक्ति' लिख दिया है। 'दिव्य शक्ति' वाचक शब्द है जबकि पद्य में व्यक्तिवाचक संज्ञा है।

उसी समीचीन धर्म शास्त्र (रत्नकरण्डश्रावकाचार) के निम्नलिखि पद्यों की व्याख्या करते हुए श्री प० जुगलकिशोर जी लिखते हैं—

दान वैयावृत्य धर्माय तपोधनाय गुणनिधये ।

अपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥११२॥

व्यापत्तिव्यपनोद पदयो संवाहन च गुणरागात् ।

वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योपि संयमिनाम् ॥११३॥

अर्थ — 'और गौणता से उन तपस्वियों का भी समावेश है जो भले ही पूर्णत गृहत्यागी न हो किन्तु गृहवास से उदास रहते हों। भले ही आरम्भ परिग्रह से पूरे विरक्त न हों, किन्तु कृषि वाणिज्य तथा मिलों के संचालनादि जैसा कोई बड़ा आरम्भ तथा ऐसे महारम्भों में नौकरी का कार्य न करते हों और प्राय आवश्यकता की पूर्ति जितना परिग्रह रखते हो। साथ ही विषयो मे आसक्त न होकर जो संयम के साथ जीवन व्यतीत करते हुए ज्ञान की आराधना शुभ भावो की साधना और नि स्वार्थ भाव से लोकहित की दृष्टि को लिए हुये धार्मिक साहित्य की रचनादि रूप तपश्चर्या में रात दिन लीन रहते हो।'

पृष्ठ १४८ १४९

यहाँ पर श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार ने वैयावृत्य करने के लिए संयमी मुनियो के समान साहित्य सेवियोंको भी पात्र रूप से लिख दिया है जबकि मूल ग्रन्थ में उनका उल्लेख नहीं है। टीकाकार को मूल ग्रन्थकार के उद्देश्य को बिगाड़ना उचित नहीं ग्रन्थकार के शब्दो की व्याख्या टीकाकार विस्तृत करता है किन्तु उसकी सीमा से बाहर अपने पास से अन्य बातें लिखना उचित नहीं, क्योंकि इससे ग्रन्थकार के साहित्य में अवांछनीय विकार उत्पन्न होता है जो कि साधारण जनता मे भ्रम उत्पन्न करने वाला बन जाता है।

इसके आगे आप सल्लेखना श्रावक की व्याख्या में भी अपनी उक्त नीति को अपनाते हुए लिखते हैं—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१४७॥

आजकल मुनिजन बनपरित्याग धर्म को छोड़कर प्रायः मन्दिरों, मठों तथा गृहों रहने लगे हैं।

यहाँ पर श्री मुख्तार जी ने प्रकरण से बाहर और निराधार बात लिख कर टीका की सीमा का उल्लंघन किया है। प्राचीन काल में भी गृहस्थ श्रावक या राजा लोग घर परिवार त्यागी मुनियों को ठहरने के लिए पर्वतों में गुफायें वसतिकाएँ तथा नगर के निकट वसतिकायें बनवाया करते थे विहार करते हुए मुनिगण कुछ दिनतक उन वसतिकाओं में ठहर कर अन्यत्र विहार कर जाते थे, कभी कभी मन्दिरों में भी कुछ दिन ठहर कर अन्यत्र चले आते थे।

इसलिए प्रान्त में ऐसी सकड़ों गुफाएँ अभी तक बनी हुई हैं, मथुरा के पास सकड़ों गुफाएँ हैं। श्री धरसेन आचार्य गिरनार की चन्द्रक गुफा में रहते थे। प्राचीन काल में मुनि भक्त नाई और कुम्हार ने सम्मिलित रूप से अपने नगर के निकट एक वसतिका बनवाई थी। कुम्हार ने उस वसतिका में एक मुनि महाराज को ठहरा दिया था उसका साथी नाई दिगम्बर मुनि द्वेषी था उसने उस वसतिका में से मुनि महाराज को निकाल दिया। इस बात पर वे दोनों परस्पर लड़ पड़े और मर कर वे वन में सिंह और सूकर हुए। ग्रन्थकार ने इसी रत्नकरण्ड श्रावकाचार के ११७ वें श्लोक में पूर्वभव में मुनियों के लिए वसतिका बनवाने वाले उस मुनि भक्त सूकर का दृष्टान्त आवास दान के विषय में दिया है।

जिनेन्द्र भक्त सेठ की यह कथा भी प्रसिद्ध है जिसने क्षुल्लक के कपट वेषधारी चोर को सच्चा क्षुल्लक समझ कर अपने घर के चैत्यालय में ठहराया था। इस कथा का उल्लेख भी समन्तभद्राचार्य ने उपगूहन अंग में दृष्टान्त रूप में २० वें श्लोक में किया है। इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में भी गृहत्यागी मुनि गृहस्थों के बनवाये हुए

वसतिकाओं, गृहचैत्यालयों (मकानों) में तथा मन्दिरों में ठहरा करते थे, तब आज भी मुनि यदि वसतिकारूप धर्मशालाओं या मन्दिरों में कुछ थोड़े समय के लिए ठहर जाते हैं। फिर वहां से विहार कर जाते हैं उस धर्मशाला पर अपना स्वामित्व नहीं जमाते, न वहां सदा रहते हैं, मुनि भक्त गृहस्थोंके ठहराने की व्यवस्था अनुसार ही वहां ठहरते हैं तो इस से उनका अनगारित्व धर्म कैसे छूट गया। जब कि इस समय न तो मुनि भक्त राजाओं का शासन है न वन पर्वतों में मुनियों के ठहरने की सुव्यवस्था है।

श्री जुगल किशोर जी मुख्तार सरीखे वयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध अनुभवी विद्वान भी मूल श्लोकों के भाव से स्खलित हो गये हैं तो फिर सामान्य विद्वान यदि इससे भी अधिक स्खलित हो कर साहित्य में विकार उत्पन्न करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसी प्रकार शुद्ध साहित्य में नई नई त्रुटियां उत्पन्न होकर मौलिक ग्रन्थ अपने टीकाकारों की कृपा से विकृत बन जाता है।

कविवर श्री पं० दौलतराम जी का छहढाला ग्रन्थ प्रसिद्ध है उसके मूल रूप में तथा उसकी हिन्दी टीका में भी इस समय हेर-फेर की जा रही है। इस हेर फेर से कोमलमति साधारण ज्ञानवार स्त्री पुरुष भ्रम में पड़े बिना न रहेंगे।

छहढाला की दूसरी ढाल में गृहीत मिथ्या ज्ञान का स्वरूप बतलाने वाला निम्नलिखित पद्य है।

एकान्तवाद दूषित समस्त विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
कपिलादि रचित श्रुत को अभ्यास सो है कुबोध बहु देन त्रास॥१३॥

श्री पं० दौलतराम जी का छहढाला सिंघई मन्नु देवरी (सागर) (म० प्र०) द्वारा प्रकाशित हुआ है, श्री नमचन्द जी पटोरिया द्वारा इसका सम्पादन हुआ है। इस छहढाला में उपरिलिखित पद्य इस तरह छाप दिया है—

एकान्तवाद दूषित समस्त विषयादिक पोषक अप्रशस्त ।
रागी-कुमतिन कृत-श्रुत को अभ्यास सोहै कुबोध [illegible] देन त्रास ।१३

यहाँ तीसरे चरण को एक दम बदल डाला है। इस तरह मूल ग्रंथ में परिवर्तन करने का दुःसाहस किया गया है।

एक अभी नया छहढाला सोनगढ़ के तत्वावधान में गुजराती टीका से हिन्दी में अनुवादित होकर प्रकाशित हुआ है। प्रकाशक श्री सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला ६२ धनजी स्ट्रीट, बम्बई नं० २ हैं। पुस्तक मिलने का पता दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र) है। छहढाला की गुजराती टीका किसने की है, यह ज्ञात नहीं हो सका परन्तु उसका हिन्दी अनुवाद श्री मगनलाल जी जैन ने किया है।

इस नवीन हिन्दी टीका में सोनगढ़ की पद्धति को अपना कर अनेक अनर्थ किये गए हैं जो मूल ग्रन्थ की आशयभूत भावना से भिन्न प्रकार के हैं। मैं यहाँ नमूने के लिये उसकी दूसरी ढाल के उक्त पद्य को ही रखता हूँ।

इस १३ वें पद्य का अन्वयार्थ तो टीकाकार ने ग्रंथ के अनुकूल ठीक किया है परन्तु भावार्थ में अर्थ का अनर्थ करके गड़बड़ कर दिया है। टीकाकार अपने भावार्थ के छठे परिच्छेद में लिखता है—

"दया दान महाव्रतादि के शुभभाव—जो कि पुण्यास्रव हैं उससे, तथा मुनि को आहार देने के शुभभाव से संसार परित (अल्प मर्यादित) होना बतलाये, तथा उपदेश देने के शुभभाव से धर्म होता है—आदि जिनमें विपरीत कथन हों वे शास्त्र एकान्त और अप्रशस्त होने के कारण कुशास्त्र हैं, क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की यथार्थता नहीं है। जहाँ एक तत्त्व की भूल हो वहाँ सातों तत्त्वों की भूल होती ही है, ऐसा समझना चाहिये।"

ऐसा लिखकर सोनगढ़ के टीकाकार ने मूल ग्रन्थकार श्री दौलतराम जी के सरल सीधे अभिप्राय को ही बदल डाला है। ग्रन्थकार ने अनेतर

सद् असद् नित्य अनित्य आदि एकान्तवादियों के लिखित ग्रंथों के अभ्यास को गृहीतमिथ्याज्ञान बतलाया है तब सोनगढ़ के इस टीकाकार ने जिस ग्रंथ की वह टीका कर रहा है उस छहढाला ग्रन्थ को ही कुशास्त्र ठहरा दिया। एवं समस्त चरणानुयोग के ग्रन्थों को भी यहां तक कि कुन्दकुन्द आचार्य के ग्रंथों को भी कुशास्त्र बतलाने का साहस किया है। क्योंकि श्री प० दौलतराम जी ने छहढाला की पहली ढाल में दया को श्रेयस्कर बताया है। "कहैं सीख गुरु करुणा।" चौथी ढाल में मुनि आदि सुपात्रों को दान करने को तथा अणुव्रत पालन करने को श्रावक का धर्म बतलाया है।

मुनि को भोजन देय फेरि निज करें अहार।,
त्रसहिंसा को त्याग वृथा थावर न संहार (अहिंसा अणुव्रत)
पर बधकार कठोर निन्द्य नहिं वचन उचार। (सत्य अणुव्रत)
जलमृतिकाबिन और नाहि कछु गहै अदत्ता,
निज वनिता बिन सकल नारि सों रहै विरत्ता।
अपनी शक्ति विचारि परिग्रह थोरो राखे।
(अचौर्य ब्रह्मचर्य परिग्रह परिमाण अणुव्रत)।
छठी ढाल में प्रारम्भ से ही महाव्रतों को मुनि धर्म कहा है—
षटकाय जीव न हनन तैं सब विध दरब हिंसा टरी,
(अहिंसा महाव्रत आदि।)

इस तरह टीकाकार ने स्वयं अपने लिखे अनुसार छहढाला को कुशास्त्र प्रमाणित करके उसकी टीका करते हुए स्व पर कल्याण किया है।

दया तथा अहिंसा जैनधर्म का मूल है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने दया और अहिंसा को अपने चारित्र पाहुड आदि ग्रंथों में धर्म लिखा है जैसेकि 'धम्मो दयाविसुद्धो, हिंसारहिये धम्मे' आदि।

अणुव्रतों महाव्रतों को चारित्र पाहुड में श्रावक धर्म, मुनिधर्म बतलाया है। रयणसार ग्रंथ में दान करना, पूजा करना श्रावक का मुख्य धर्म बतलाया है।

रयणसार में श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखते हैं—

'दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्म,ण सावया तेण विणा'

'जो मुणि भुत्तसेसं भुंजइ, सो भुंजइ जिणुवदिट्ठं।

संसारसारसोक्खं, कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥२२

अर्थ—जो भव्य जीव मुनियों को भोजन कराने के पश्चात् बचे हुए भोजन को स्वयं खाता है वह संसार के श्रेष्ठ सुखों को पाता हुआ क्रम से सर्वोत्तम मोक्ष के सुख को पाता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

तत्वार्थसूत्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार, मूलाचार, पुरुषार्थ सिद्धि उपाय, चारित्रसार आदि चरणानुयोग के समस्त ग्रन्थों में उक्त दान दया अणुव्रत, महाव्रत, मुनियों को आहारदान करने आदि व्रतों का धर्म रूप से विधान है वह सब आर्ष विधान इस नये टीकाकार की टीका से कुन्मार्ग सिद्ध होता है। टीकाकार की दृष्टि से दान धर्म शायद दया और अहिंसा धर्म रूप नहीं है। इस तरह टीकाकार ने ऐसा अनर्थ करके कोमल मति बच्चों को तथा सहशाला पढ़ने वाली स्त्रियों को पथभ्रष्ट करने का यत्न अपनी इस टीका में किया है।

इसके सिवाय और भी बहुत से सिद्धान्त विरुद्ध विषय टीकाकार ने इस टीका में ■ यत्र लिखे हैं।

पुण्य त्याज्य है या नहीं

श्री कुन्दकुन्द आचार्य विरचित परम आध्यात्मिक ग्रन्थ समयसार पर श्री अमृतचन्द्र सूरि, श्री जयसेन आचार्य ने प्रामाणिक संस्कृत टीकाएँ लिखी है तथा प० जयचन्द्र जी छाबड़ा ने हिन्दी भाषा में प्रामाणिक टीका लिखी है। उन सभी टीकाओं में टीकाकारों ने

का भाव ठीक सुरक्षित रक्खा है परन्तु कानजी स्वामी ने जो अभी समयसार का प्रवचन किया है उसमें समयसार का महान अनर्थ किया है। यहाँ इस विषय के २-४ प्रमाण देते हैं —

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोग बंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥४॥

इस गाथा का सीधा सरल अर्थ यह है कि—

समस्त संसारी जीवों ने काम भोग तथा कर्म-बंध की कथा सुनी है वे उससे खूब परिचित हैं तथा वे काम विषय भोग उनके अनुभूत हैं, परन्तु उनको इससे भिन्न आत्मा के एकत्व की उपलब्धि सुलभ नहीं है।

कानजी स्वामी जी इस गाथा पर प्रवचन करते हुए बीच में लिखते हैं—

"मनुष्य अनाज खाता है। उसका विष्ठा भूंड नामक प्राणी खाता है।'

'ज्ञानी ने पुण्य को जगत की धूल को विष्ठा समझ कर त्याग दिया है अब अज्ञानी जन पुण्य को उमंग से अच्छा मानकर आदर करता है। इस प्रकार ज्ञानियों के द्वारा छोड़ी गई पुण्य रूप विष्ठा जगत के अज्ञानी जीव खाते हैं। पृष्ठ १०४ १२८।

'कोई किसी पर का कुछ नहीं कर सकता किन्तु पर का जो होना है वह तो हुआ ही करेगा। तब फिर दान सेवा उपकार आदि न करने का तो प्रश्न ही नहीं रहता। ज्ञानी के शुभ भाव होता है किन्तु उसमें उसका स्वामित्व नहीं होता। पृष्ठ ८२।

कानजी स्वामी का यह प्रवचन न तो मूल गाथा के अनुरूप है, न तो अमृतचन्द सूरि तथा जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका के अनुकूल है और न पं० जयचन्द जी की हिन्दी भाषा टीका के अनुसार है। पुण्य को विष्टा की हीन उपमा स्वयं श्री कुन्दकुन्द आदि किसी भी आचार्य ग्रन्थ-कार ने नहीं दी।

पुण्य के विषय में जब विश्लेषण करके विचार किया जावे तो पुण्य के तीन वाच्यार्थ सिद्ध होते हैं—१—पुण्य आचरण, २—पुण्य कर्म—३—पुण्य फल।

इनमें से पंच पापों का त्याग करके सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के लिए अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण रूप पाँच अणुव्रत और मुनियों के लिए महाव्रत पुण्य आचरण है। यह पुण्य आचरण गृहस्थ तथा मुनि दोनों को अपने अपने पद अनुसार ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) प्रत्येक शास्त्रकार ने बतलाया है। क्योंकि पापों की विरक्ति के कारण अणुव्रत महाव्रतों से यथायम निरोध के कारण संवर तथा असंख्यातगुणी निर्जरा भी हुआ करती है।

इसके सिवाय महाव्रती मुनि ही आरम्भत्यागरूप होकर सातिशय अप्रमत्त सातवाँ गुणस्थान प्राप्त करता है उसी सातिशय अप्रमत्त द्वारा अन्त में शुद्धोपयोगी चारित्र वाला आठवें गुण स्थान का पहला शुक्लध्यान प्राप्त करता है जिससे अन्तमुहूर्त में मोहनीय कर्म का क्षय करके यथाख्यात चारित्र पा लेते हैं। तदनन्तर अन्तमुहूर्त में ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का नाश करके केवल ज्ञान पाकर अर्हन्त बन जाते हैं।

इस तरह अणुव्रती-पुण्य परम्परा से और सातिशय महाव्रती-पुण्य आचरण शुद्धोपयोग का साक्षात् उपादान कारण है।

तथा प—अव्रती श्रद्धालु श्रावक जो मांस भक्षण मदिरापान, वेश्यागमन, शिकार खेलना, जुआ खेलना आदि दुर्व्यसनों का त्याग करके जो शुद्ध खान-पान, न्याय व्यवहार, दया दान आदिक पुण्य करता है वह भी त्याज्य नहीं है।

पुण्य अपरनाम सरागचारित्र या व्यवहारचारित्र है उस भी क्या ज्ञानी विष्ठा के समान समझ छोड़ सकता है? सराग, विराग का मिश्रित परिणाम ही सम्यग्दृष्टि (वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिनवाणी के

श्रद्धालु उपासक) का पुण्य है। उस पुण्य के राग-अंश के कारण जहाँ शुभ कर्मों का बन्ध होता है वहाँ ही उसी पुण्य के विराग अंश से कर्मों का संवर और कर्मों की निर्जरा भी होती है।

२—सम्यग्दृष्टि के कर्म बन्धरूप पुण्य यानी—शुभकर्म आस्रव-शुभ कर्म बन्ध त्याज्य है परन्तु जब तक सम्यग्दृष्टि जीव समस्त आरम्भ परिग्रह का त्याग करके मुनि नहीं बन जाता और मुनि होकर भी जब तक सातिशय अप्रमत्त आत्मध्यानी नहीं बनता तब तक वह शुक्लध्यानी नहीं बन सकता। शुक्लध्यान की शुद्ध-उपयोगी दशा में भी दसवें गुण स्थान तक राग अंश रहने से उसके पुण्य कर्म का बन्ध होता ही रहता है। इस तरह दसवें गुणस्थान तक पुण्य-बन्ध से छुटकारा नहीं मिलता। अतः पुण्य कर्म बन्ध संसार का कारण होने से त्याज्य होने पर भी सहज में नहीं छूटता।

अभव्य जीव तथा दूरातिदूर भव्य जीव के तो योग्यता न होने से पुण्य कर्म-बन्ध कभी भी (अनन्त काल तक) नहीं छूटता।

इसके सिवाय पुण्य कर्म प्रकृतियों में त्रिलोकवर्ती जीवों का संसार सागर से उद्धार कराने वाली, सबसे श्रेष्ठ पुण्य रूप तीर्थंकर प्रकृति शास्त्रों में सोलह कारण भावनाओं द्वारा उपार्जन बतलाई है।

इस तरह पुण्य कर्म बन्ध सर्वथा त्याज्य नहीं है, पापबन्ध की अपेक्षा वह उपादेय भी है। पंचमकाल में भरतक्षेत्र के जीवों को जब मोहनीय कर्म का क्षय करने की योग्यता नहीं है, मुक्ति प्राप्त करने का या शुक्ल-ध्यान का निमित्त कारण भूत वज्रऋषभ नाराच संहनन नहीं होता तो उस दशा में तो पापकर्म बन्ध से बचकर पुण्य कर्म का उपार्जन लाचारी से भी उपादेय है। यदि इस पुण्यकर्म बन्ध को आज का मनुष्य छोड़ दे तो उसके पापकर्म का ही बन्ध होता रहेगा।

३—पुण्य कर्म के उदय से मनुष्य भव, उच्च कुल, सुन्दर स्वस्थ शरीर, अच्छा सुखी परिवार, गृहस्थाश्रम का संचालन सुविधा के साथ

करने योग्य धन सम्पत्ति का लाभ आदि सामग्री मिलती है।

उस पुण्य कर्म फल को भी किसी भी प्रकार ने विष्ठा के समान त्याज्य कहा है धन सम्पत्ति के सिवाय पुण्य कर्म के फल रूप मनुष्य भव, उच्च कुल स्वस्थ सुन्दर शरीर, तीर्थकर पद, तथा साता वेदनीय के उदय से प्राप्त मुनिदशा का भी साता रूप सुख किसी तरह त्याग नहीं किया जा सकता और न अब तक किसी भी ज्ञानी ने इन तरह के (मनुष्य भव आदि का) पुण्य फल का कभी त्याग ही किया है।

विरक्त सम्यग्दृष्टि गृहस्थ दशा में पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त धन सम्पत्ति का दान रूप में त्याग किया करता है परिग्रह का परिमाण रूप सीमित त्याग करता है और परिवार पोषण के लिए समर्थ भाई पुत्र आदि के हो जाने पर घर-बार से भी विरक्त होकर समस्त आरम्भ परिग्रह का त्याग करके मुनि बन जाता है परन्तु पुण्यकर्म के फल से प्राप्त अपने मनुष्य शरीर, उच्च कुल एवं स्वस्थ सुन्दर शरीर को तो मुनि अवस्था में भी नहीं छोड़ सकता।

कानजी स्वामी भावुकता-वश पुण्य को विष्ठा की हीन उपमा देकर दूसरों को जहां पुण्य त्याग देने का उपदेश दे रहे हैं वहां स्वयं उस पुण्य आचरण को कर रहे हैं, पूर्व संचित पुण्य कर्म का फल रुचि के साथ उपभोग कर रहे हैं तथा भविष्य के लिए कर्म का बन्ध कर रहे हैं। इसके सिवाय वे उक्त तीनों प्रकारों में से किसी भी तरह के पुण्य का त्याग कर भी नहीं सकते। फिर भी वे पुण्य को त्याज्य कहते हैं?

पर-पदार्थ

कानजी स्वामी के कथन अनुसार जब पर पदार्थ किसी का कुछ भला नहीं कर सकता तो कानजी स्वामी प्रवचन किस लिये करते हैं? ग्रन्थ किस लिए प्रकाशित कराते हैं? और मन्दिर क्यों बनवाते हैं? क्योंकि प्रवचन ग्रन्थ प्रकाशन और मन्दिर प्रतिमा आदि पर पदार्थ हैं।

षट् खण्ड आगम, कषायपाहुड तथा उनकी विस्तृत टीका धवल जयधवल महाधवल गोम्मटसार आदि ग्रन्थ एवं स्वयं समयसार ग्रन्थ इस विषय का स्पष्ट पुष्ट समर्थन करते हैं कि पौद्गलिक कर्म अजर अमर आत्मा को जन्म मरण करा रहा है, उसके सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र का प्रतिबन्धक, निरोधक बना हुआ है। फिर समयसार की टीका में यह विपरीत क्यों लिखा कि पर पदार्थ कुछ नहीं करता ? ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जान बूझ कर पाप क्रियाओं का त्याग करके संयम व्रत नियम तप आदि करता है, वह पाप क्रिया का स्वामी नहीं बनता किन्तु आत्मशुद्धि के कारणभूत, विषय कषाय को घटाने वाले शुभ कार्यों यानी व्यवहार चारित्र का तो स्वामी दृढ़ संकल्प के साथ बनता ही है। क्योंकि सम्यक चारित्र आत्मा का निजी गुण है। अपने गुण का स्वामी बनना ज्ञानी का मुख्य कार्य है जब कि पापाचरण का स्वामी अज्ञानी बना करता है। व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्र का परम्परा तथा साक्षात् उपादान कारण है यह बात सिद्धान्त की दृष्टि से ऊपर बतला दी है।

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च।

आसव संवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

समयसार की इस गाथा का सरल सीधा अर्थ यह है कि—

जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य पाप इन नौ पदार्थों को यथार्थ रूप जान लेने पर सम्यक्त्व होता है।

"दान पूजा इत्यादि शुभ भाव और हिंसा असत्य आदि अशुभ भाव हैं, उन शुभाशुभ भावों से बंध होता है, यह मान्यता तो त्रिकाल मिथ्यात्व है।"

श्री अमृतचन्द्र सूरि तथा जयसेन आचार्यों ने इसी आशय को पुष्ट करते हुए संस्कृत टीका लिखी है परन्तु कानजी स्वामी इस गाथा की टीका में अपने पास से नमक मिर्च मिला कर लिखते हैं—

"दान पूजा इत्यादि शुभ भाव और हिंसा असत्य आदि अशुभ भाव

हैं, उन शुभाशुभ भावों के करने से धर्म होता है, यह मान्यता तो त्रिकाल मिथ्यात्व है। भाग २ पृष्ठ ६।

हिंसा असत्य आदि पापों को किसी भी दि० जैन ग्रन्थ में धर्म नहीं माना, उनको पाप कहा है, किन्तु दान पूजा आदि शुभ भावों को धर्म तो समयसार के रचयिता स्वयं श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अपने रयणसार ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है।

दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ॥११॥

अर्थ—श्रावक (गृहस्थ) धर्म में दान करना और पूजा करना मुख्य है दान पूजा के बिना श्रावक नहीं हो सकता।

जिन मन्दिर बनवाकर उसमें प्रतिमा विराजमान इसीलिये की जाती है कि उसकी पूजा करने से गृहस्थ श्रावकों को वीतराग धर्म की आंशिक प्राप्ति होती है। आप भी इसी भावना से मन्दिरों के बनवाने के लिये अपने भक्तों से दान कराते हैं और जिन प्रतिमा के दर्शन पूजा के शुभ भावों से धर्म होना नहीं मानते! यह विचित्र बात है।

समाधिमरण

समयसार की १६ [redacted] गाथा की टीका में भी आप ऐसी ही अप्रकृत सिद्धान्त विरुद्ध बात लिखते हैं। देखिए—

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१६॥

अर्थ—जब तक यह आत्मा कर्म और नोकर्म (शरीर) को अपना या स्वयं आपको उन कर्म नोकर्म रूप समझता है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (अनज्ञान) रहता है।

परन्तु इस गाथा की व्याख्या करते हुए कानजी लिखते हैं—

मरण के समय यदि सत्पुरुषों का समागम उनकी उपस्थिति हो तो वे मृत्यु को सुधार देंगे वे मेरे भावों में सहायक हो सकते हैं—इस

प्रकार जो मानता है उसे अपनी स्वतन्त्रता की श्रद्धा नहीं है।' पृष्ठ १६६

"सच्चे देव, गुरु शास्त्र के निमित्त भी पर हैं, उनका अवलम्बन ये भी शुभ राग होने से स्वाधीन स्वभाव में सहायक नहीं है।"

मरण के समय असह्य वेदना होती है, इस लिये उस समय प्राय प्रत्येक जीव के परिणाम संक्लेशित अशुभ हो जाया करते हैं। उस अवसर पर यदि उस जीव के निकट धर्मात्मा मनुष्य होते हैं तो वे उस मरणासन्न जीव के परिणामों में व्याकुलता कम कर शान्ति उत्पन्न करने के लिये अर्हन्त वीतराग का स्वरूप दर्शक णमोकार मन्त्र वैराग्य भावना आदि आदि पाठ सुनाते हैं, अशुभ अनात्म भावों को छोड़ने का उपदेश देते हैं जिससे मरते समय उसके भाव वीतरागता की ओर आकर्षित होते हैं। ऐसे मरण को समाधिमरण कहते हैं। समाधिमरण करने की भावना धर्मात्मा में स्वभाव से होती है। श्री शिवकोटि आचार्य ने इसी विषय पर भगवती आराधना नामक महान ग्रंथ लिखा है। तत्त्वार्थ सूत्र (मारणान्तिकी सल्लेखना जोषिता) रत्नकरण्ड श्रावकाचार मूलाचार आदि ग्रन्थों में समाधिमरण का उपदेश दिया है। सर्पयोनिमें समाधिमरण के कारण ही भगवान् पार्श्वनाथ के प्रतिबोध देने पर सर्प सर्पिणी मरकर धरणेन्द्र पद्मावती हुए। जीवन्धर द्वारा कराये गये समाधिमरण से कुत्ता देव हुआ, चारुदत्त सेठ के द्वारा प्रतिबुद्ध होकर मरणासन्न बकरा मरकर देव हुआ। इसी प्रकार असंख्य संयमी, देशसंयमी, असंयमी, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि स्त्री पुरुषों ने अन्य व्यक्तियों के अवलम्बन से समाधिमरण द्वारा अचिन्त्य लाभ उठाया है।

उस समाधिमरण को कानजी उपयोगी नहीं समझते यह अद्भुत चमत्कार है।

पर पदाथ

वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और वीतराग की जिन-वाणी (सच्चे शास्त्र) पर पदार्थ अवश्य हैं। परन्तु वे आत्मा की वीतरागता में प्रदर्शक

या निर्ग्रंथ हैं, अतः उनके दर्शन वंदन स्तुति पूजन से आत्मा में वीतरागता जाग्रत हुआ करती है जिससे कि आत्मा का स्वाधीन निर्मल स्वभाव प्रकट होने में सहायता मिलती है। इसी सिद्धि के लिये देव शास्त्र गुरु की भक्ति का राग कोरा न होकर संसार से छुड़ाने वाला वीतरागता मिश्रित राग होता है। उस मिश्रित वीतरागता के द्वारा मिथ्यात्व का प्रहार होता है, सम्यक्त्व प्राप्त होता है और कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा होती रहती है—

धवल सिद्धान्त ग्रंथ में श्री वीरसेन आचार्य ने लिखा है—

'जिणबिम्ब-दंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्म-कलावस्स खयदंसणादो।"

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा का दर्शन करने से निधत्त निकाचित रूप मिथ्यात्व आदि कर्म समूह क्षय हो जाते हैं। श्री कुन्दकुन्द देव ने देव शास्त्र गुरु को बोधपाहुड़ ग्रन्थ की २५वीं गाथा में भव्य जीवों का कल्याण उत्पन्न करने वाला बतलाया है (उप्पयरो भव्व जीवाणं)

क्या इन आर्ष ग्रंथों पर कानजी स्वामी को श्रद्धा नहीं है ?

समय सार के प्रवचन में कानजी स्वामी ने प्राचीन प्रामाणिक टीकाकारों की पद्धति का परित्याग करके स्वतन्त्र पद्धति को अपनाया है, अतः वे अनेक जगह जैन सिद्धान्त की अवहेलना करते गये हैं, मैंने यहाँ पर उपरिलिखित तीन गाथाओं के उदाहरण ही प्रस्तुत किये हैं।

मुनि और कसाई बराबर हैं ?

कानजी ने पं० टोडरमल जी लिखित मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ की सहायक पुस्तक मोक्षमार्ग की किरण नामक लिखी है, उसमें उन्होंने बहुत सी सिद्धान्त विरोधी निराधार बातों का समावेश कर दिया है जिनको पढ़कर साधारण स्त्री पुरुष भ्रान्त हो सकते हैं। यहाँ उनके कुछ उद्धरण देता हूँ।

"एक तो हजारों पशुओं का वध करने वाला कृष्ण लेश्या युक्त कसाई और दूसरा 'मैं पर का कर सकता हूं तथा पुण्य से धर्म होता है।" "ऐसी मिथ्या मान्यतायुक्त शुक्ल लेश्याधारी द्रव्यलिङ्गी जैन साधु यह दोनों जीव चार कषायों की अपेक्षा बराबर हैं।"

[द्वि० अध्याय पृष्ठ ४६ ४७]

द्रव्यलिंग भावलिंग

महाव्रती निर्ग्रन्थ साधु आत्मध्यान की अवस्था में जब सातवें गुणस्थानवर्ती होता है और स्वाध्याय, आहार विहार, शयन आदि क्रियाओं के समय जब छठे गुणस्थान वर्ती होता है तब उसके 'भावलिंग' (बाहरी निर्ग्रन्थ वेष के समान अन्तरंग निर्ग्रन्थ भाव) होता है। यदि मुनि के अन्तरंग भाव छठे गुणस्थान से नीचे के यानी-पांचवें, चौथे, तीसरे, दूसरे, पहले गुणस्थान के हो जावें तो द्रव्यलिंग के अनुरूप अन्तरंग भाव न रहने के कारण उस अवस्था में मुनि को द्रव्य लिंगी यानी—केवल बहिरंग साधना वाला मुनि कहा जाता है।

तदनुसार यदि कोई अभव्य मनुष्य मुनिलिंग धारण करके पंच महाव्रत पालन करता है तब तो वह सदा मिथ्या दृष्टि एवं द्रव्य लिंगी साधु ही बना रहता है और यदि कोई भव्य पुरुष मुनि व्रत धारण करता है तो वह कभी भावलिंगी मुनि होता है और कभी प्रत्याख्यानावरण कषाय, कभी अप्रत्याख्यानावरण कषाय और कभी अनन्तानुबन्धी कषायका उदय हो जाने से उपशमभाव के भावों से च्युत हो जाने के कारण द्रव्यलिंगी भी बन जाता है।

इस कारण कानजी का यह लिखना गलत है कि "द्रव्यलिंगी मुनि के अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन ये चारों कषायें होती हैं।" जब किसी को सम्यग् दृष्टि के भाव हो जाने पर मुनि अपने भावों की अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, तथा देश संयम के भाव हो जाने पर संयतासंयत गुणस्थानी हो जाने के कारण

भव्य मुनि द्रव्यलिंगी होकर भी मिथ्यादृष्टि नहीं होता। अतः द्रव्यलिंगी मुनि मिथ्यादृष्टि ही हो, ऐसा एकान्त नियम नहीं है।

इस कारण मुनि और जीववध करने वाले कसाई में कषायों की अपेक्षा समानता बतलाना गलत है।

दूसरे—कोई अभव्य पुरुष संसार, शरीर और विषय भोगों से विरक्त होकर मुनिदीक्षा ले ले, तो वह द्रव्यलिंगीमुनि अपने अन्तरंग के करुणामय भावों तथा शारीरिक, सांसारिक विरक्ति के कारण कसाई से असंख्यात गुणा अच्छा शुभ परिणामी होता है। कसाई के भाव दुष्ट निर्दय होते हैं जबकि मुनि के भाव अहिंसा, दया रूप होते हैं। कसाई छुरी से बेधड़क जीवों का हनन करता है और मुनि अपनी किसी भी प्रवृत्ति से सूक्ष्म जीवों का भी कभी संकल्पी घात नहीं करता।

इसके सिवाय कसाई के असत्य भाषण, चोरी, कुशील परिग्रह, माँस भक्षण, मदिरापान, शिकार आदि पापों एवं दुर्व्यसनों का त्याग नहीं होता अतः उसके परिणाम सदा अनुचित रहते हैं जबकि द्रव्यलिंगी मुनि पंच पापों और सातों व्यसनों से रहित व्यावहारिक सम्यक्चारित्र निष्ठ होता है अतः उसके परिणाम इस दृष्टि से शुभ कोमल, सरल, सदाचारी होते हैं।

परिणामों के इसी महान् अन्तर के कारण कसाई नरक में जाता है और द्रव्यलिंगी मुनि सोलह स्वर्ग से भी ऊपर नौवें ग्रैवेयक का अहमिन्द्र पद तक प्राप्त कर सकता है। इस तरह भी नरकगामी कसाई और ग्रैवेयक विमानगामी द्रव्यलिंगी मुनि एक समान नहीं हो सकते।

द्रव्यलिंगी मुनि अपनी वैराग्यमयी बाह्य परिणति से तथा श्रद्धा ज्ञान चारित्र की ओर प्रेरणा करने वाले अपने सत् उपदेशों से संसार के जीवों का कल्याण करता है, जीवों को कुपथ से हटाकर सुपथ पर लगाता है उनमें श्रद्धा ज्ञान, वैराग्य उत्पन्न करके उन्हें संसार से विरक्त करता है। द्रव्यलिंगी मुनि का उपदेश पाकर बहुत से भव्य जीव मुनि

दीक्षा लेकर शुक्लध्यानी हो मुक्त भी हो जाते हैं। इस तरह द्रव्यलिङ्गी मुनि संसार का बहुत उपकारी होता है। उसस जितना हो सकता है उतना अपना भी कल्याण करता है।

कोई आध्यात्मिक प्रवक्ता समयसार उपदेश करता रहे परन्तु उसके अन्तरंग में मिथ्यात्व कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम न हो पावे, जिससे कि अन्य व्यक्तियों को सम्यक्त्व का उपदेश देता हुआ भी स्वयं मिथ्यात्वी ही बना रहे, तो ऐसा अकसी आध्यात्मिक व्याख्याता भी क्या चारो कषायों के उदय के कारण बकरा काटने वाले कसाई के समान है ? यह प्रश्न कानजी स्वामी के भी सामने है क्योंकि अध्यात्म उपदेश देने वाला व्यक्ति सम्यग्दृष्टि ही हो, यह कोई नियम नहीं है।

कानजी स्वामी को जरा सोच समझ कर, सिद्धांत पर दृष्टि रखते हुए बोलना चाहिए।

पुण्य

मैं परका कर सकता हूँ तथा पुण्य से धर्म होता है।' यह मान्यता क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के भी हुआ करती है, सम्यक् प्रकृति के उदय से क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व में यह मैंने मन्दिर बनवाया है, यह मेरा मन्दिर है ऐसे भाव तथा भगवान पार्श्वनाथ विघ्नहर्ता हैं आदि भाव हुआ करते हैं। गोम्मटसार टीका में इसका विवेचन है।

एवं—चौथे पाँचवें छठे और सातवें गुणस्थान में पुण्य भावों से ही कर्मसंवर कर्मनिर्जरा रूप धर्म हुआ करता है जो कि मोक्ष का या शुद्ध उपयोग का कारण है। सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान के अन्त में शुभभाव ही शुद्धभाव होकर आठवां गुणस्थान हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि का पुण्य संसार का कारण नहीं होता, परम्परा से तथा सातवें गुणस्थान की अपेक्षा साक्षात् शुद्ध परिणति का भी कारण है। इस लिये सम्यक् दृष्टि जीव के पुण्य भावों से धर्म होता है, यह बात बिलकुल

ठीक है। इतना ही नहीं अपितु यह कहना भी ठीक है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य भाव स्वयं धर्मरूप है।

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइवि णियाणं सो ण कुणई॥

—भावसंग्रह

अर्थ—

सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं है। वह सम्यग्दृष्टि यदि निदान (आगामी सांसारिक सुखों की इच्छा) न करे तो उसका पुण्य मोक्ष का ही कारण है।

कानजी को यह बात समझना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि का पुण्यभाव सराग वीतराग भाव का मिश्रित परिणाम होता है, जैसा कि तीसरे गुणस्थान का मिश्रित परिणाम होता है।

वर्तमान काल में ही हीनसंहनन आदि कारणों से किसी भी व्यक्ति को शुद्ध उपयोग या निश्चय धर्म, शुक्लध्यान नहीं हो सकता, इस कारण पाप विरक्त जिनवाणी के श्रद्धालु जिनवाणी के ज्ञाता सदाचारी स्त्री पुरुषों में शुभभावमय पुण्य ही हो सकता है, जैसा कि स्वयं कानजी स्वामी [redacted] भी समझ है। तो क्या इस समय कोई व्यक्ति धर्मात्मा हो ही नहीं सकता ?

इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देते समय कानजी को अपनी भूल स्वयं दीख जावेगी।

जिनवाणी और पर-स्त्री समान हैं ?

'मोक्षमार्ग की किरण' पुस्तक में ८० वें पृष्ठ पर कानजी लिखते हैं—

"श्री वीतराग की वाणी का श्रवण भी पर विषय है और स्त्री भी पर विषय है। ज्ञानी के पर विषय की रुचि नहीं है। वीतराग की वाणी को श्रवण की भी भावना ज्ञानी के नहीं है।'

जैन संस्कृति का मूल आधार जहाँ सम्यक्श्रद्धा सम्यग्ज्ञान, सच्चरित्र है वहाँ उस श्रद्धा ज्ञान आचार का मूल कारण वीतराग देव, जिनवाणी और निर्ग्रन्थ गुरु हैं। अतएव सम्यक्त्व उत्पन्न करने के लिए यह अनिवार्य आवश्यक है कि स्वच्छ हृदय से वीतराग देव, जिनवाणी और निर्ग्रन्थ गुरु की श्रद्धा भक्ति, उपासना की जावे। आत्मा में सद्ज्ञान का विकास तभी होता है।

केवल ज्ञान होने से पहले सभी जीव छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) होते हैं। श्रद्धालु स्त्री पुरुष जिनवाणी को सुनकर तथा स्वाध्याय करके अपने ज्ञान को विकसित किया करते हैं। आजकल की जनता में तो अवधि, मन पर्यय ज्ञान किसी को है नहीं किन्तु इसके साथ ही विशिष्ट मति-और पूर्ण श्रुतज्ञान भी नहीं है। जब चौथे काल में अवधिज्ञानी, मन-पर्ययज्ञानी भी समवशरण में आकर रुचि से जिनवाणी (दिव्यध्वनि) सुनते हैं और उसी के निमित्त से अपनी भाव शुद्धि करके मुक्ति प्राप्त करते हैं तब आज कानजी स्वामी श्रद्धालु जनता को श्रद्धा से भ्रष्ट करने के लिए उल्टी बात कहते हैं कि 'ज्ञानी को वीतराग की वाणी श्रवण करने की भावना नहीं होती।'

'अज्ञानी (मूर्ख) तथा मिथ्याज्ञानी को जिनवाणी सुनने की भावना न हो यह बात तो मानी जा सकती है परन्तु सम्यग्ज्ञानी के अपार जिन वाणी को सुनने की भावना न होवे।' यह बात तो बिलकुल उलटी है।

नियमसार ग्रन्थ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पर पदार्थ रूप जिन-वाणी को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण बतलाया है—

'सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा' यानी सम्यक्त्व उत्पन्न होने का निमित्त कारण जिनसूत्र (जिनवाणी) तथा जिनवाणी के ज्ञाता पुरुष हैं।

कान जी अपने आपको महान ज्ञानी मानते हैं (किन्तु सब कोई जानता है तथा स्वयं कान जी स्वामी समझते हैं कि उनका ज्ञान, समुद्र में एक बूंद के बराबर है।) फिर भी वे जिनवाणी—समयसार प्रवचनसार आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय रुचि से स्वयं क्यों करते हैं ?

खुद (स्वयं) जिस बात को हितकारी समझकर करना और दूसरों को उस बात से दूर रखने की चेष्टा करना, विलक्षण बात है।

जिनवाणी को परस्त्री की हीन उपमा देना कितना निन्दनीय है यह बात भी उनके मन में नहीं आती ?

जब बुद्धिमान पुरुष अच्छे ग्रन्थों द्वारा अपनी ज्ञानवृद्धि करता है तब कान जी स्वामी जिनवाणी—आर्षग्रन्थों को 'पर विषय' बतलाकर उनके में रुचि पूर्वक स्वाध्याय से साधारण जनता को वंचित रहने का उपदेश देते हैं।

कान जी का स्मरण

सोनगढ़ में चम्पा बहिन बहुत ज्ञानवती विदुषी समझी जाती है। उसने अपने अपने पिता जी को अन्तिम समय (मृत्यु के समय) एक पत्र लिखा था। यह पत्र 'आत्म धर्म पत्र' न० १२ वें वर्ष के ५ वें अंक में निम्नलिखित प्रकाशित हुआ है—

'परमपूज्य महाराजश्री श्री कान जी परम पुरुष हैं उनका बहुमान पूर्वक स्मरण करना चाहिए।

"उपरोक्त भावना बहिन श्री (चम्पा बहिन) ने अपने पूज्य पिताजी को अंतिम समय में भाने के लिए लिख दी थी। जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी होने से यहां दी है।

यहां विचारणीय यह है कि सम्यग्दृष्टि के लिए वन्दनीय तथा स्मरण करने योग्य अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और सर्वसाधु हैं णमोकार मन्त्र म । गया है।

कान जी तरह पाँच परमेष्ठियों में से कोई भी नहीं है वे ए
साधारण व्रती हैं। उनके खान पान, आहार विहार आदि में वैराग
का कोई चिह्न नहीं पाया जाता, ऐसी दशा में मृत्यु समय उनक
स्मरण करने की प्रेरणा करना कहाँ तक उचित है ?

उपदेश देना जड़ की क्रिया है ?

मोक्षमार्ग की किरण—पुस्तक में १७८ वें पृष्ठ पर कान
लिखते हैं—

'दूसरों को उपदेश देना मुनि का लक्षण नहीं है उपदेश जड़
क्रिया है आत्मा उसे नहीं कर सकता।'

शब्द पुद्गल वर्गणा रूप होते हैं, अत वे जड़ हैं, यह बात ठीक है, परन्तु इसके साथ ही ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि उपदेश रूप शब्द केवल जड़ क्रिया रूप नहीं होते, जगत का कोई भी जड़ पदार्थ (शब्द वर्गणा) अपने आप शब्द रूप परिणत नहीं हुआ करता यदि हो तो उसे कान जी स्वामी बतलावें। ज्ञानी आत्मा की प्रेरणा से शब्द वर्गणाएं शब्द रूप परिणत होती हैं, श्री पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि के पाँचवें अध्याय में ऐसा ही लिखा है। सुनने वाले आत्मा को वे शब्द हेय उपादेय, वक्तव्य, अवक्तव्य, सुपथ कुपथ का ज्ञान उत्पन्न कराते हैं।

इस तरह उपदेशी शब्दों का प्रेरक निमित्त कारण ज्ञानी आत्मा है और उन शब्दों का फल श्रोता का ज्ञान, विवेक जाग्रत रूप होता है।

इसी के अनुसार तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि खिरती है और भव्य जीव समवशरण में आकर उसे सुनते हैं। जिससे उनका आत्म हित होता है।

अर्हन्त भगवान के पद चिह्नों पर चलकर मुनि भी वैसा उपदेश देते हैं। जिससे उपदेश सुनने वाले भव्य जीव मिथ्यात्व, कुज्ञान और दुराचार छोड़ कर स्व-पर-कल्याण करते हैं।

इसलिए कानजी का उपर्युक्त लिखना गलत है, भ्रम पैदा करने वाला है तथा जैन सिद्धान्त के विरुद्ध है अतः यह जैन साहित्य का विकार है।

हिंसा से पुण्य बन्ध

कानजी कहते हैं—

"हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प-अल्प पुण्य-बन्ध होता है।"

—मोक्षमार्ग की किरण भा० १ पृष्ठ १२२

तत्वार्थसूत्रकार श्री उमास्वाति आचार्य ने तत्वार्थसूत्र के छठे अध्याय का तीसरा सूत्र लिखा है—

'शुभ पुण्यास्याशुभ पापस्य।' ६, ३।

अर्थ—जीवरक्षा करना, हित मित सत्य प्रिय वचन बोलना आदि शुभ मन वचन काय की प्रवृत्ति (शुभ योग) पुण्य आस्रव का कारण है और हिंसा करना, असत्य बोलना, कामक्रीड़ा आदि अशुभ योग पाप-आस्रव (असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों के आस्रव) का कारण है।

पुण्य-आस्रव और पाप आस्रव की इस परिभाषा का सभी दि० जैन ग्रन्थकारों ने समर्थन किया है।

तदनुसार कसाई बकरा, गाय आदि जीवों की छुरी आदि से हिंसा करते समय अपने मन वचन काय योग से पाप कर्मों (असाता वेदनीय नरक गति आदि) का आस्रव तथा बन्ध करता है।

परन्तु कानजी पुण्य पाप आस्रव की उस आर्ष व्याख्या पर पानी फिरते हुए जीव-हिंसा करते समय भी कसाई के पुण्य-बन्ध का कपोल कल्पित विधान करके सर्वसाधारण को पथभ्रष्ट करना चाहते हैं। 'हिंसा करने में पुण्यबन्ध होना' यह कानजी के सिवाय अन्य किसी जैन ग्रन्थ-कार ने नहीं [illegible]

दिव्यध्वनि से कुछ लाभ नहीं ?

मोक्षमार्ग की किरण पुस्तक के २१२ वें पृष्ठ पर कानजी ने लिखा है—

'तीर्थङ्कर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता ।"

जगत का मोह अज्ञान अन्धकार तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि (वाणी) से दूर होकर जगत में धर्म का तथा सत् ज्ञान का प्रचार होता है भव्य जीवों का मिथ्यात्व, भ्रम, संशय आदि दूर होता है। इसी कारण असंख्य सुर नर पशु रुचि के साथ समवशरण में आकर तीर्थंकर की वाणी को सुनकर आत्महित करते हैं, समयसार आदि ग्रन्थ भगवान महावीर की वाणी के अनुसार ही लिखे गये हैं। श्री कुन्दकुन्द आचार्य अष्ट पाहुड़ में लिखते हैं—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमियभूयं ।
जरमरणवाहि—हरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥१७॥

अर्थ—तीर्थङ्कर जिनेन्द्र की वाणी सांसारिक विषयसुख रूपी रोग का विरेचन कराने के लिए (मल त्याग कराने के लिए) अमृतरूप औषधि है, जरामरण व्याधि को दूर करने वाला है तथा समस्त दुःखों का क्षय करने वाली है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य तो इस तरह तीर्थंकर की वाणी को जगत का कल्याण करने वाली कहते हैं और कुन्दकुन्द आचार्य में अपनी गहरी श्रद्धा भक्ति प्रगट करने वाले कानजी कुन्दकुन्द आचार्य के उक्त कथन के विरुद्ध कहते हैं कि "तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता' कानजी का यह उल्लेख कितना अनर्थकारी असत्य है ? इसको जैनसिद्धान्त के ज्ञाता विद्वान स्वयं अनुभव करें। यदि संसार में तीर्थंकर की वाणी से भी लाभ नहीं हुआ तो क्या उससे विपरीत कानजी के कथन से जनता का लाभ हो सकेगा ?" यह एक प्रश्न है जिस पर सर्व साधारण को विचार करके निर्णय करना है।

तीर्थ वन्दना व्यर्थ है ?

कानजी स्वामी मोक्षमार्ग की किरण पुस्तक में १७०वें पृष्ठ पर लिखते हैं कि—

"कोई कहे कि "सम्मेदशिखर और गिरनार का वातावरण ऐसा है कि धर्म की रुचि होती है ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।"

सम्मेदशिखर गिरनार आदि स्थानों से तीर्थंकरों तथा असंख्य अन्य मुनियों ने मुक्ति प्राप्त की है उन स्थानों पर जाकर प्रत्येक स्त्री पुरुष उन मुक्त पुरुषों का हृदय से स्मरण करते हैं इस कारण वहां के शान्त वातावरण से वीतरागता का उदय भव्य जीवों को हुआ करता है, अनेक व्यक्ति तो वहां जाकर संसार से विरक्त होकर मुनि भी बन जाते हैं। इसी कारण उन मुक्ति स्थानों को 'तीर्थ' (संसार सागर से पार करने वाला) कहते हैं।

परन्तु कानजी उस धार्मिक श्रद्धा को मिथ्यात्व कह कर भोली जनता में भ्रम फैलाते हैं। परमात्मप्रकाश में लिखा है—

'व्यवहारनयेन निर्वाणस्थान-चैत्यालयादिकं तीर्थंभूतगुण-स्मरणार्थं तीर्थं भवति।

यानी—व्यवहारनय से निर्वाणभूमि और चैत्यालय (जिन मन्दिर) आदि में वास्तव्य तीर्थंकरादि के गुण स्मरण करने के लिए तीर्थ (संसार सागर से पार करने वाला स्थान) होता है।

किन्तु कानजी भाई उलटी बात लिखकर जनता को तीर्थ-वन्दना से दूर रखना चाहते हैं। इसके साथ ही स्वयं इन सम्मेदशिखर गिरनार आदि तीर्थों की वन्दना भी करते हैं।

शायद कानजी अपने आप को सिद्ध समान मान कर तीर्थ-वन्दना को अहितकारी या व्यर्थ समझते होंगे। अपने आपको

सिद्ध समझने वालों के लिये श्री पं० टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाश में लिखा है कि—

"अपनी आत्मा को सिद्ध समान अनुभव है सो आप प्रत्यक्ष संसारी है। भ्रम करि आपको सिद्ध मान सोई मिथ्यादृष्टि है।"

निश्चय एकान्तवादी कान जी आदि श्री पं० टोडरमल जी के उक्त वाक्य पर गम्भीरता से विचार करें।

जीयो और जीने दो

अन्त में मैं एक बात कह कर इस प्रकरण को समाप्त करता हूँ। कान जी ने मोक्षमार्ग की किरण के १८४ वें पृष्ठ पर लिखा है—

जीयो और जीने दो ऐसा अज्ञानी कहते हैं।

आजकल का मनुष्य इतना अधिक जिह्वा-लोलुपी बनता जा रहा है कि मुर्गा आदि जीवों को जीवित उबालकर उसका मांस खाने लगा है, अण्डा खाता है, मछली, कबूतर आदि जीवों को बड़ी निर्दयता से मारकर उनसे अपना पेट भरता है और प्रसन्न होता है। जीवित गाय, भैंसों के शरीर से चम उतारा जाता है गर्भिणी गायों, भेड़ा, बकरियों को औषध खिलाकर उनका गर्भपात कराते हैं फिर उनके पेट से निकले हुए बच्चों का कोमल चमड़ा उतार कर कोमल जूते बनाते हैं। इत्यादि रूप से आज का निर्दय मनुष्य हिंसा कर रहा है। ऐसे धर्म कर्म भ्रष्ट निर्दय हिंसक मनुष्यों को जीव हिंसा से छुड़ाने के लिये साधारण जनता में कहा जाता है कि—

'जियो और जीने दो

यानी—तुम स्वयं शांति से अपना जीवन व्यतीत करो तथा अन्य जीवों को शांति के साथ जीने दो। अर्थात् किसी भी जीव को मत सताओ।

इस अहिंसा-सूचक दयामय वाक्य से जनता का हृदय हिंसा तथा निर्दयता की ओर से हटकर उसको सन्मार्ग पर लगने की प्रेरणा मिलती है इसमें अज्ञान की कौन-सी बात है, यह तो अहिंसा प्रचार के लिए बुद्धिमान ज्ञानी की भावना है।

क्या कान जी 'मरो और मारो' को ज्ञानी की भावना मानते हैं ? क्या नहीं अहिंसा धर्म तथा दया भाव से कान जी को क्यों अरुचि है ?

इसी तरह का साहित्य विकार कान जी स्वामी की पुस्तकों में जगह जगह पाया जाता है।

कान जी स्वामी को तथा पूर्वोक्त अन्य ग्रन्थ-लेखकों को अपने-अपने निर्मित ग्रन्थों में से ऐसा विकृत अंश दूर करके स्वपर कल्याण करना चाहिए। क्योंकि भोली जनता को विकृत साहित्य द्वारा पथ भ्रष्ट करना महान अपराध है।

'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्य का सीधा सात्त्विक अर्थ था कि 'उगने की शक्ति रहित पुराने जौ से हवन करना चाहिए' परन्तु 'अज' शब्द का अर्थ 'बकरा' करके 'बकरों को काट कर हवन करना चाहिये।' ऐसा समर्थन वसु राजा ने किया जिससे वह स्वयं तो नरक में गया। परन्तु उसके उस गलत समर्थन से जगत में पशुओं को हत्या करके हवन यज्ञ करने का कुमार्ग प्रचलित हो गया।

ऐसा ही अनर्थ विकृत साहित्य द्वारा हुआ करता है।

बुद्धिमान् स्त्री-पुरुषों को ऐसे विकृत साहित्य से सदा दूर रहना उचित है।

अर्थ का अनर्थ

श्री कानजी स्वामी ने ग्रंथकार के सुन्दर भाव के स्थान पर स्व-कपोल कल्पित कितना अनुचित अनर्थ किया है उसका नमूना देखिये—

उत्तमशौच धर्म

परवधूवराद्यादिषु च [illegible] निःस्पृहमहिंसकं चेतः ।
दुर्भेद्यान्तर्मलहृत्तदेव शौचं परं नान्यत् ॥९४॥
—पद्मनन्दि पंचविंशतिका (दश लक्षण धर्म)
श्री कानजी स्वामी के प्रवचन, सोनगढ़

' सज्जन पुरुषों के परस्त्री सेवन का भाव होता ही नहीं। किन्तु वास्तव में तो शुभभाव भी परस्त्री है। शुभभाव से आत्मा को लाभ मानकर शुभपरिणति का संग करना वह परस्त्रीगमन है। पृ० ३८ ४०

ग्रन्थकार ने तो अपने श्लोक में शौच धर्म का स्वरूप बतलाया कि 'परस्त्री आदि जीवों में निःस्पृह होना, अहिंसक चित्त होना सो अन्तरङ्ग दुर्भेद्य मन के मल को दूर करने वाला शौच धर्म है।" इस ग्रंथ का अनर्थ करके कानजी कहते हैं कि शुभभाव ही परस्त्री है।' परस्त्री त्याग के शुभभाव 'परस्त्री कैसे बन गये? वह तो मन का ब्रह्मचर्य शुद्ध भाव रूप है।

उत्तम सत्य धर्म

स्वपरहितमेव मुनिभिर्मितममृतसमं सदैव सत्यं च
वक्तव्यं वचनमथ प्रविधेयं धीधनैर्मौनम् ॥९१॥ पद्म० पंच०

' मेरे शुभराग से या वाणी से मुझे या अन्य को लाभ हो, अथवा निमित्त बनकर दूसरे को समझा दूँ—ऐसा जिसका अभिप्राय है वह

जीव महा असत्य अभिप्राय का सेवन करने वाला मिथ्यादृष्टि है।" पृ० २०

ग्रन्थकार ने उक्त श्लोक में सत्य धर्म का स्वरूप बतलाया है कि मुनि या तो अमृत समान स्वपरहितकारी वचन कहें अथवा मौन रक्खें। कान जी इस सुन्दर अर्थ को बिगाड़ कर मनमाना कुछ और ही अनर्थ लिखकर भ्रम फैला रहे हैं। यदि सत्य हितकारी वाणी से अन्य जीवों का कल्याण न होता तो क्यों तो अर्हन्त भगवान की दिव्यवाणी होती, क्यों श्री कुन्द कुन्द आचार्य समयसार लिखते और क्या आप प्रवचन करते हैं ?

"सिद्धचक्र की पूजा करने से कुष्ठ रोग दूर हो जाता है—ऐसा कथन शास्त्र में निमित्त से आता है उसे कोई यथार्थ ही मान ले तो वह मिथ्यादृष्टि है।' मो० प्र० किरणें भा० अ०

भगवान की भावसहित पूजा जब परम्परा से मुक्ति देने वाली है तो कुष्ठ रोग दूर होना तो साधारण बात है। श्रीपाल का कुष्ठ भगवान के प्रक्षालित गंधोदक से दूर हुआ ही था। इसमें मिथ्यात्व की क्या बात है ? क्या आपको इस ऐतिहासिक घटना पर विश्वास नहीं है ?

अनन्तबार शास्त्रपाठी हुआ, अनन्तबार भगवान के समवशरण में गया, अनन्तबार द्रव्यलिंग भी धारण किया किन्तु स्वयं कौन है और पर कौन है उसका यथार्थ ज्ञान करके पराधीन दृष्टि नहीं छोड़ी।'

—मोक्ष० प्र० की किरणें पृ० २७४

"अनन्तबार ऐसा आगम ज्ञान हुआ कि बाहर में कोई भूल दिखाई न दे। अब तो आगम ज्ञान का भी ठिकाना नहीं है। जो आगम से विरुद्ध प्ररूपण करता है वह तो मिथ्यादृष्टि है ही।"

—मोक्ष० प्र० की किरणें सा० भा० पृ० २७६

कान जी भी जब अब तक अनन्त भव धारण कर चुके हैं तो उनको आगम के विरुद्ध अब तो प्ररूपण न करना चाहिये, वे जो उपदेश दूसरों को देते हैं उसका आचरण स्वयं तो करें।

'दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान'

—भूधरदास

कतिपय

विद्वानों के

पठनीय

अभिमत

अन्त में विभिन्न विद्वानों के कुछ पठनीय लेखांश उपयोगी समझ कर यहाँ उद्धृत किए जाते हैं।

नियतिवाद दृष्टिविष

(लि०—डा० प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य बनारस)

आज श्री कानजी स्वामी की वस्तु विज्ञानसार पुस्तक को पढ़ते समय उस प्रहसन की याद आ गई और ज्ञात हुआ कि नियतिवाद का कालकूट ईश्वरवाद से भी भयंकर है। ईश्वरवाद में इतना अवकाश है कि यदि ईश्वर की भक्ति की जाय तो ईश्वर के विधान में हेरफेर हो जाता है। ईश्वर भी हमारे सत्कर्म और दुष्कर्मों के अनुसार ही फल का विधान करता है। पर नियतिवाद अभेद्य है। आश्चर्य तो यह है कि इसे अनन्त पुरुषार्थ का नाम दिया जाता है। यह कालकूट कुन्द कुन्द, अध्यात्म, सर्वज्ञ सम्यग्दर्शन और धर्म की शक्कर में लपेट कर दिया जाता है। ईश्वरवादी सांप के जहर का एक उपाय (ईश्वर) तो है पर इस नियतिवाद कालकूट का इस भीषण दृष्टिविष का कोई उपाय नहीं क्योंकि हर एक द्रव्य की हर समय की पर्याय नियत है।

"मर्मान्त वेदना तो तब होती है जब इस मिथ्या एकान्त विष को अनेकान्त अमृत के नाम से कोमलमति नई पीढ़ी को पिलाकर उन्हें अनन्त पुरुषार्थी कहकर सत्य के प्रति पुरुषार्थ से विमुख किया जा रहा है।
(पृष्ठ ४८)

"नियतिवाद में स्वपुरुषार्थ भी नहीं—नियतिवाद में अनन्त पुरुषार्थ की बात तो जाने दीजिए स्वपुरुषार्थ भी नहीं है। विचार तो कीजिये जब हमारा प्रत्येक क्षण का कार्यक्रम सुनिश्चित है और अनन्तकाल का, उसमें हेरफेर का हमको भी अधिकार नहीं है तब हमारा पुरुषार्थ कहाँ? और कहाँ हमारा सम्यग्दर्शन? हम तो एक महानियति चक्र के अंग और इसके परिवर्तन के अनुसार प्रतिक्षण चल रहे हैं। यदि हिंसा करते हैं तो नियत है, व्यभिचार करते हैं तो नियत है, चोरी करते हैं तो नियत है, पापचिन्ता करते हैं तो नियत है। हमारा पुरुषार्थ कहाँ होगा? कोई भी क्षण इस नियतिभूत की भीतरी से रहित नहीं है, जब हम साँस लेकर कुछ अपना भविष्य निर्माण कर सकें।"

—तत्त्वार्थवृत्ति भूमिका (पृष्ठ ४९ ५०)

स्याद्वाद और सप्तभंगी

(ले०—पं० मनसुखदास न्यायतीर्थ)

स्याद्वाद और लोक व्यवहार—

"स्याद्वाद का उपयोग तभी है जब व्यावहारिक जीवन में उतारा जाय। मनुष्य के आचार विचार ऐहिक अनुष्ठानों में स्याद्वाद केवल इसलिये हमारे सामने नहीं आया कि वह शास्त्रीय नित्यानित्यादि विवादों का समन्वय करे। उसका मुख्य काम तो मानव के व्यावहारिक जीवन में आ जाने वाली मूढ़ताओं को दूर करना है। मनुष्य परम्पराओं व रूढ़ियों में लिप्त रहना चाहते हैं। यह उनकी संस्कारगत निर्बलता है। ऐसी निर्बलताओं को स्याद्वाद के द्वारा ही दूर किया जा

सकता है। स्याद्वाद को पाकर भी यदि मनुष्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के द्वारा होने वाले परिवर्तनों को स्वीकार न कर सकें, उसमें विचारों की सहिष्णुता न हो तो उसके लिये स्याद्वाद बिलकुल निरुपयोगी है। दुःख है कि मानव जाति के दुर्भाग्य से इस महामहिम वाद को भी लोगों ने आग्रह भरी दृष्टि से ही देखा और इसकी असली कीमत आँकने का प्रयत्न नहीं किया। हजारों वर्षों से ग्रन्थों में आ रहे इसको अगर अबभी आचार का रूप दे दें तो उसकी सब समस्याएँ दूर हो जावें। भारत में धर्मों की लड़ाइयाँ तब तक बन्द नहीं होंगी जब तक स्याद्वाद के ज्योतिर्मय नेत्र का उपयोग नहीं किया जायगा।'

(पृष्ठ २५)

'स्याद्वाद परमागम का जीवन है। यह परमागम न रहे तो सारा परमागम पाखण्ड हो जाय। इसे परमागम का बीज भी कह सकते हैं। क्योंकि इसी में सारे परमागम की शाखायें ओत प्रोत हैं। स्याद्वाद इसीलिये है कि जगत के सारे विरोध को दूर कर दे। यह विरोधको बरदास्त नहीं करता, इसी से हम कह सकते हैं कि जैन धर्म की अहिंसा स्याद्वाद में रग रग में भरी पड़ी है। जो वाद बिना दृष्टि कोण हैं, स्याद्वाद उन्हें दृष्टि देता है कि तुम इस दृष्टि-कोण को लेकर अपने वाद को सुरक्षित रखो, पर जो यह कहने के आदी हैं कि केवल हमारा ही कहना यथार्थ है, स्याद्वाद उनके विरुद्ध खड़ा होता है, और उनका निरसन किये बिना उसे चैन नहीं पड़ती, इसलिए कि वे ठीक राह पर आ जावें और अपने आग्रह द्वारा जगत में संघर्ष उत्पन्न करने के कारण न बनें।

—वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ—(पृष्ठ २५)

सर्वज्ञता के अतीत इतिहास की एक झलक

[ले०—पं० फूलचन्द्र जैन सिद्धान्त शास्त्री]

'यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वज्ञ के समर्थन वाली दृष्टि बदल कर आत्मतत्त्व के विश्लेषण में लीन हो जाता है। तभी तो वे यहाँ लिखते हैं "यद्यपि+व्यवहार नय की अपेक्षा केवली सबको जानते हैं, किन्तु निश्चय नय की अपेक्षा वे अपने को ही जानते और देखते हैं।' आत्मस्वरूप का कितना सुन्दर विश्लेषण है। ज्ञायक भाव आत्मा का स्वभाव है, किन्तु वह आत्मनिष्ठ है। अतः फलित हुआ कि निश्चय नय से आत्मा स्व को ही जानता और देखता है तथा व्यवहार द्विविधामय है। उसका अनेक के बिना काम नहीं चलता। अतः फलित हुआ कि व्यवहार नय से आत्मा सबको जानता और देखता है। बात यह है कि कार्य कारण व्यवहार, जिसकी लीक पर सारा संसार चक्र प्रतिक्षण घूम रहा है, केवल स्वरूप के विश्लेषण करने तक सीमित नहीं है क्योंकि वह द्विविधामय है। हम देखते हैं कि दो या दो से अधिक परमाणुओं के मिलने से स्कन्ध बनता है और फिर उनसे मिट्टी आदि विविध तत्वों की उत्पत्ति होती है तदनन्तर उन्हें ज्ञान अपने से ग्रहण करता है। तब इन को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? सत्य और मिथ्या ये सापेक्ष शब्द हैं। ऋषियों का प्रयोजन मूल वस्तु का ज्ञान कराना रहा है। अतः उन्होंने व्यवहार को मिथ्या आदि जो कुछ भी मैं आया सो कहा। वेदान्तियों ने तो इस

+जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥ १५८ ॥ नि०सा०

द्विविधामय जगत के अस्तित्व को ही मिटा देना चाहा, पर क्या इससे व्यवहार नाम शेष हुआ ? यदि निश्चय तत्त्वाधिष्ठित है तो वह अपनी अपेक्षा से ही। यदि व्यवहार की अपेक्षा से भी उसे वैसा मान लिया जाय तो बन्ध मोक्ष की चर्चा करना ही छोड़ देना चाहिये। कविवर प० बनारसीदास जी ने ऐसा किया था, पर अन्त में उन्हें एकान्त निश्चय का त्याग करके व्यवहार की शरण में आना पड़ा। आचार्य कुन्दकुन्द ने जो व्यवहार को अभूतार्थ कहा है वह व्यवहार की अपेक्षा नहीं, किन्तु निश्चय की अपेक्षा से कहा है। व्यवहार अपने अर्थ में उतना ही सत्य है, जितना कि निश्चय। जिस प्रकार हम विविध पदार्थों को जानते हैं किन्तु हमारा वह सब जानना झूठा नहीं है फिर भी वह ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही रहता है। उसी प्रकार केवली भगवान् सब पदार्थों को जानते और देखते हैं, किन्तु उनका वह जानना असत्य नहीं है। फिर भी वह उनका ज्ञायकभाव आत्मनिष्ठ ही है उपर्युक्त व्यवहार और निश्चय की कथनी का यही अभिप्राय है।

—वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ३१४ ३१५

सम्यक्त्व के साधन

साधन दो प्रकार हैं—अभ्यन्तर और बाह्य। दर्शनमोहनीय का उपशम क्षय या क्षयोपशम अभ्यन्तर साधन है। बाह्य साधन निम्न प्रकार हैं—नारकियों के चौथे नरक से पहले तक अर्थात् तीसरे नरक तक किन्हीं के जातिस्मरण, किन्हीं के धर्मश्रवण और किन्हीं के वेदना भिभव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। चौथे से नरक सातवें तक किन्हीं के जातिस्मरण और किन्हीं के वेदनाभिभव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

तिर्यचों में किन्हीं के जातिस्मरण किन्हीं के धर्मश्रवण और किन्हीं के जिनबिम्बदर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। मनुष्यों के भी इस प्रकार जानना चाहिए।

देवों में किन्हीं के जातिस्मरण किन्हीं के धर्मश्रवण किन्हीं के जिनमहिमादर्शन, और किन्हीं के देवऋद्धिदर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। यह व्यवस्था आनत कल्प से पूर्व तक जानना चाहिए। आनत, प्राणत आरण और अच्युत कल्प के देवों के देव ऋद्धिदर्शन को छोड़ कर शेष तीन साधन पाये जाते हैं। जो ग्रैवेयक में निवास करने वाले देवों के सम्यग्दर्शन का साधन किन्हीं के जातिस्मरण और किन्हीं के धर्मश्रवण है। अनुदिश और अनुत्तरविमानों में रहने वाले देवों के यह कल्पना नहीं है, क्योंकि वहां सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं।

—पं० फूलचन्द जी द्वारा अनुवादित सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ २६ २७

परिणमन

वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥५ २२॥

वर्तना परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल के उपकार हैं ॥२२॥

अर्थ—यद्यपि धर्मादिक द्रव्य अपनी नवीन पर्याय के उत्पन्न करने में स्वयं प्रवृत्त होते हैं तोभी वह बाह्य सहकारी कारण के बिना नहीं हो सकती इसलिए उसे प्रवर्ताने वाला काल है, ऐसा मानकर वर्तना काल का उपकार कहा है।

—पं० फूलचन्द जी द्वारा अनुवादित सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ २९१

आचार्य कुन्दकुन्द की देन

—श्री प्रा० दलसुख मालवणिया

'यदि व्यवहार नय नहीं तो निश्चय भी नहीं। यदि संसार नहीं तो मोक्ष भी नहीं। संसार और मोक्ष जैसे परस्पर सापेक्ष हैं उसी प्रकार व्यवहार और निश्चय भी परस्पर सापेक्ष हैं।

—वर्णी अभि० ग्रन्थ पृष्ठ ४४

जो सच्चमणयत णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं ।
लोयाण पण्ह वसदो ववहार-पवत्तणट्ठ च ॥३७७॥

—कार्तिकेय पृष्ठ ॥२२१॥

अर्थ—जो लोगों के प्रश्नों के वश से तथा व्यवहार को चलाने के लिए सप्त भंगी के द्वारा नियम से अनेकान्त तत्त्व का श्रद्धान करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ।

श्रीमद् रायचन्द्र में

नय निश्चय एकान्तथी, आमां नथी कहेल ।
एकांते व्यवहार नहिं, बन्ने साथ रहेल ॥१३२॥

—आत्म सिद्धि, पृष्ठ ६२१

अर्थ—यहाँ एकान्त से निश्चय नय को नहीं कहा, अथवा एकान्त से व्यवहार नय को भी नहीं कहा । दोनों ही जहाँ जहाँ जिस जिस तरह घटते हैं, उस तरह साथ रहते हैं ।

उपादाननु नाम लई, ए जे तजे निमित्त ।
पामे नहीं सिद्धत्वने, रहे भ्रांतिमां स्थित ॥१३६॥

—आत्म सिद्धि पृष्ठ ३२

अर्थ – सद्गुरु की आज्ञा आदि आत्म साधन के निमित्त कारण हैं, और आत्मा के ज्ञान दर्शन आदि उसके उपादान कारण हैं—ऐसा शास्त्र में कहा है इससे उपादान का नाम लेकर जो कोई उस निमित्त का त्याग करेगा वह सिद्धत्व को नहीं पा सकता, और वह भ्रांति में ही रहा करेगा । क्योंकि शास्त्र में उस उपादान की व्याख्या सच्चे निमित्त के निषेध करने के लिए नहीं कही । परन्तु शास्त्रकार की कही हुई उस व्याख्या का यही परमार्थ है कि उपादान के अजागृत रखने से सच्चा निमित्त मिलने पर भी काम न होगा, इसलिए सद्‌निमित्त मिलने पर उस निमित्त का अवलंबन लेकर उपादान को सम्मुख करना चाहिए, और पुरुषार्थ हीन न होना चाहिए ।